Devbhoomi Journal of Multidisciplinary Research (DJMR)
URL: www.usvv.ac.in/djmr Email: djmr@usvv.ac.in
Volume-1, Issue-1, Jan – June 2023

भाषा, संचार और ज्ञान को चाहिए औपनिवेशिक सोच से मुक्ति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी अंतर राष्ट्रीय हिंदी विश्व विद्यालय,
वर्धा, महाराष्ट्र

भारत की भाषिक विविधता का अद्भुत विस्तार और उसका सहज स्वीकार प्राचीन काल से इस देश में सामाजिक बर्ताव का अहम हिस्सा रहा है। इस विविधता को ध्यान में रख कर अक्सर भारतवर्ष को भाषाओं की एक विलक्षण प्रयोगशाला भी कहा जाता है। ऐतिहासिक रूप से अथर्ववेद के मंत्र 'जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणम् पृथ्वी यथौकसम', सहस्रं धारा द्रविनास्य में दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरंती ' में इसका आरंभिक उल्लेख मिलता है। इस मंत्र में कहा गया है कि बहुत तरह के धर्मों को मानने वाले, अनेक भाषाओं को बोलने वाले जन- समुदाय को, जैसे एक घर में कोई रहे उस तरह धारण करने वाली, हमारी पृथ्वी, हजारों तरह से , जैसे गाय दूध प्रदान करती है, उसी तरह हमें धन प्रदान करे । इसका स्पष्ट आशय यही है कि यह धरती अनेक भाषाओं को बोलने वालों और धर्मों का अनुगमन करने वालों का भरण-पोषण करती है। भाषाओं की विवधता के सत्य से परिचय के साथ ही इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि एक ही समुदाय के सदस्यों द्वारा भी भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में अलग-अलग भाषाओं का उपयोग किया जाता रहा है। आज भी घर, बाहर, कार्यालय और बाजार में लोग अलग भाषाओं का प्रयोग करते मिलते हैं। निश्चय ही सामाजिक, व्यावसायिक और भौगोलिक-पारिस्थितिक विविधताओं के चलते भाषिक विविधता स्वाभाविक रही है और भिन्न भाषाओं का मनो-स्पर्श इस अर्थ में आह्लादकारी होता है कि उससे हमारे लिए अनुभवों की एक नई दुनिया खुल जाती है। भाषा के साथ हमारी रिश्तेदारी का सौंदर्य इस बात में भी निहित होता है कि उसमें हमेशा नए के सृजन की गुंजाइश बनी रहती है। भाषाओं के बीच की आवाजाही एक सहज स्वीकार्य व्यवहार था और देश के विभिन्न भागों में व्यापार और धार्मिक प्रयोजनों से जुड़ कर समुदायों के बीच भौतिक दूरी से उपजा अपरिचय कम होता था। विभिन्न भाषाओं का सह अस्तित्व था और उनके लिए आपस में आदर भाव भी रहता था। रोचक बात यह भी है कि अनुवाद को कोई स्वतन्त्र शास्त्र प्राचीन भारत में विकसित होता नहीं दिखता और प्राय: अनुवाद की जगह पुनर्रचना ही मिलती है । उदाहरण के लिए आज अनेक भाषाओं में लगभग तीन सौ रामायण उपलब्ध हैं और कोई किसी का अनुवाद न हो कर नई रचना के रूप में उपलब्ध और सभी 'मूल' ग्रन्थ के रूप में आदृत हैं। और तो और अगस्त्यसंहिता नामक ग्रन्थ में रामायण को वेद का अवतार कहा गया है (वेद: प्राचेतसादासीत्साक्षाद् रामायणात्मना) और बाद में अवधी में तुलसीकृत रामचरितमानस जिस तरह लोक में आदृत और पूजित हुआ। वह उसका अगला अवतरण ही सिद्ध हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता पर केन्द्रित ज्ञानेश्वरी में संत ज्ञानेश्वर द्वारा रचित प्रसंग में अर्जुन श्री कृष्ण से कहते हैं 'आपकी उलझी भाषा मुझे समझ में नहीं आ रही। आप

मुझे सरल मराठी में समझाइए (आइकें देवा। हा भावार्थ आता न बोलावा। मज विवेकु सांगावा। महाटा जी म्हणोनि) ज्ञानेश्वरी में ही एक जगह संत ज्ञानेश्वर कह रहे हैं कि भगवद्गीता रूपी तीर्थ में अवगाहन करना कठिन हो गया था क्योंकि घाट संस्कृत का था, इसलिए मेरे गुरु निवृत्तिनाथ ने मेरे माध्यम से उसमें थोड़ा परिवर्तन ला कर मराठी भाषा की पैड़ियों का घाट बनवादिया" (तीरे संस्कृताची गहने। तोडोनि महाटिया शब्दसोपाने। रचिली धर्मनिधाने। निवृत्ती देवे) बात बड़े पते की है। यह ध्यान रखना चाहिए कि नदी में स्नान करने में सुविधा हो इसके लिए पैड़ियाँ बनवानी हों तो किनारे की ज़मीन को तोड़ा नहीं जाता बल्कि उसी का आश्रय लेकर, उसमें कुछ सामग्री और जोड़कर उसका निर्माण किया जाता है। इस तरह संस्कृत से लोकभाषा में हुए रूपान्तर भी उसके विपरीत या उसके विरोध में जा कर नहीं हुए थे बल्कि उसका आधार लेकर उसे सहज और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध बनाने के उद्देश्य से किये गये थे।

ये प्रसंग यही दर्शाते हैं कि भाषाओं में अंतरावलंबन भी होता है और भाषा की विविधता समस्या न रह कर समृद्धि का अवसर भी देती है। भारत में भाषा की बहुलता समाज की एक स्वाभाविक स्थिति थी और बहुभाषिकता व्यवहार में थी। भारत की बहुत सारी भाषाओं का संस्कृत के साथ शब्द-भंडार और भाषा-संरचना के स्तरों पर निकटता अंतरभाषिक संवाद और संचार का मार्ग प्रशस्त करती थी। कहना न होगा कि भाषाओं के लिए औदार्य की भावना और उनके प्रति सहिष्णुता हमारे मानसिक जगत का विस्तार करने के साथ व्यावहारिक स्तर पर सामाजिक सद्भाव का मार्ग भी प्रशस्त करती है । भाषाओं को एक दूसरे के आमने-सामने खड़ा कर अस्मिता की राजनीति के लिए भुनाना क्षोभकारी है। हमें उन्हें अवसर में तब्दील करने की कोशिश करनी चाहिए।

भाषाओं पर विचार करते हुए हमें यह भी याद रखना होगा कि वाचिक आधार पर भारतीय संस्कृति की निर्मिति की परम्परा बड़ा पुरानी है। वह वेद-काल से हज़ारों वर्षों से सतत चलता चली आ रही है । इतिहास , पुराण और अनेक शास्त्र ग्रंथ बहुत दिनों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी वाचिक रूप में एक से दूसरे को मिलते रहे और सुरक्षित बने रहे। आज भी कथा सुनने का सुख और स्वाद पाने के लिए गावों ही नहीं शहरों में भी आम जनता लालायित रहती है और धर्म नगरियों से भिन्न जगहों पर भी राम-कथा, भागवत-कथा और कृष्ण-कथा सुनाने वाले कथावाचकों की आम जनता में बड़ी माँग बनी रहती है । सत्संग में कथा-श्रवण का विशेष स्थान होता है और रामचरितमानस, भगवद्गीता, दुर्गा सप्तशती तथा अनेक देवी-देवताओं के स्तोत्रों और मंत्रों आदि को लोग दैनिक पूजा-पाठ और आराधना उपासना में भी शामिल किए हुए हैं और इन सबके साथ आत्मिक शांति पाने की चेष्टा करते है। इस तरह वाचिकता का समाज की मानसिकता की बुनावट के साथ बड़ा गहरा नाता है और छापे के अक्षर न लिख-पढ़ कर भी सुन सुन कर भी गावों में बड़ी संख्या में लोग निरक्षर होते हुए भी शिक्षित रहते थे।

यह एक सार्वभौमिक तथ्य है कि संस्कृति, भाषा और समाज एक दूसरे के साथ बड़ी गहनता से जुड़े होते हैं । संवाद का प्रमुख आधार होने के कारण किसी समाज या समुदाय की पहचान को रचने-गढ़ने में उसकी भाषा की केंद्रीय भूमिका होती है। इस ढंग से सोचें तो स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक न्याय, समता और अवसरों की उपलब्धता सुनिश्चित करना अंग्रेज़ी से सम्भव नहीं है। सन 1837 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत की अदालत और शासन के काम के लिए फ़ारसी की जगह अंग्रेज़ी को लागू किया था। इसकी बेड़ी कुछ इस तरह जकड़ी कि अंग्रेज़ी मानसिक गुलामी की द्योतक है और उसी के साथ सांस्कृतिक दुर्बलताएँ भी शामिल हुई हैं। इसके चलते उपभोक्तावाद को शह मिली और प्रकृति और पर्यावरण से दूरी बढ़ती गई है जिसका ख़ामियाज़ा सभी भुगत रहे हैं । अंग्रेज़ी के प्रचलन से ग़ैर बराबरी , भेद-भाव और जीवन जीने में असुविधा बढी है। भारत में भाषा के सत्य से मुंह मोड़ कर अंग्रेजी को जिस तरह एक अकाट्य विकल्प की तरह बैठा दिया गया उसने विचार और कार्य को अंग्रेजी के माध्यम (केयर आफ !) पर आश्रित बना दिया। द्वारपाल की तरह अंग्रेजी अन्दर (विहित/स्वीकृत) और बाहर (अविहित/अस्वीकृत) की श्रेणियों में कार्य, ज्ञान, व्यवहार और अस्तित्व को बांटने लगी। वास्तव में अंग्रेज़ी एक ऐसी सीढ़ी बन गई जिस पर चढ़ कर ही किसी को व्यवसाय और कमाई आदि विभिन्न जीवन व्यापारों की राह पर चलना संभव हो पाता है । अंग्रेजी औपनिवेशिकता का माध्यम भी रही और उन्नति का पर्याय भी बन गई । यह सब इस तरह चलता रहा कि औपनिवेशिकता बने रहते हुए भी बहुत हद तक अप्रकट ही रही । इस तरह अंग्रेजी साम्राज्य के दौर से चली आ रही अंग्रेज़ी के भ्रमजाल के आवरण में रहते हुए अंग्रेजी को विश्व की सार्वभौम भाषा मान लेना भी हमारी अंग्रेजी की पक्षधरता वाली मानसिकता का एक प्रमुख कारण था। यह अलग बात है कि अंग्रेजी ही नहीं अधिकाधिक भाषाओं को जानना समझना श्रेयस्कर है परन्तु ज्ञान के माध्यम और औपनिवेशिकता के पोषक की भूमिकाओं के बीच अंतर करना जरूरी है । यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि अंग्रेजी कहीं न कहीं कुशलता, मौलिकता और सृजनात्मकता को भी कुंठित करती सी दिख रही है जिसके चलते विदेशों की ओर प्रतिभा पलायन बढ़ता जा रहा है और देशज शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार नहीं हो रहा है।

भाषाओं के सामाजिक सन्दर्भ यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि मातृभाषा स्वाभाविक रूप से और बड़ी गहनता के साथ बच्चे को जन्म के समय से ही उसके परिवार में उपलब्ध रहती है। मातृभाषा का ध्वनिरूप और उससे जुडे हाव भाव लिखने-पढ़ने की क्षमताओं के पहले से ही उपलब्ध रहते हैं। स्कूल में जाने के पहले औपचारिक रूप में बच्चे के पास प्रचुर शब्द भंडार (तीन साल की उम्र में 1000 शब्द) सहज में उपलब्ध रहता है और वह प्रभावी भी रहता है । इस तथ्य के मद्दे नजर सभी विकसित देशों में मातृभाषा में ही प्रारम्भिक शिक्षा देने की प्रथा स्वीकृत और प्रयुक्त है । भारत में स्वभाषा-प्रयोग का विस्तार लोक-भाषा या जन भाषा मानते हुए घर और अनौपचारिक परिधि में क़ैद कर दिया गया है और औपचारिक ज्ञान के लिए अंग्रेजी को ही मुफीद माना जाता रहा है।

ज्ञान पाने की औपचारिक व्यवस्था यदि मातृभाषा से भिन्न किसी दूसरी भाषा में होती है तो सिखाने और सीखने का काम अनावश्यक रूप से कठिन हो जाता है और समय और श्रम भी अधिक लगता है। मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक अध्ययनों से प्रकट है कि शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा का उपयोग मौलिकता, सृजनात्मकता और शैक्षिक उपलब्धि को सुनिश्चित करने वाला होता है। नागरिक जीवन में मातृभाषा/ क्षेत्रीय भाषा का अधिकाधिक उपयोग लोकतंत्र की व्यवस्था को भी को मजबूत करेगा । भाषाएँ जीवन का अविभाज्य अंग होती हैं इसलिए उनको नष्ट होने से बचाने का काम होना चाहिए। औपनिवेशिकता से उबरने और शिक्षा और विज्ञान को लोक मानस के पास पहुँचाने और जीवन की गुणवत्ता बढाने में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का अधिकाधिक उपयोग होना चाहिए।

भारत में भाषिक बहुलता आज भी सामाजिक बर्ताव का एक अहम हिस्सा है। एक ही समुदाय के सदस्यों द्वारा भी घर, बाहर, कार्यालय और बाजार जैसे भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में अलग भाषाओं का उपयोग किया जाता रहा है। भाषिक चर्या में इस तरह की स्वाभाविक विविधता नए अनुभव और ज्ञान के साथ समृद्ध करते हुए सृजन के द्वार खोलती है। बहुत हद तक भारत में भाषा की बहुलता समाज की एक स्वाभाविक स्थिति थी पर दुर्भाग्यवश भारतीय भाषाओं की समृद्ध दुनिया में अंग्रेजी के आगे हाशिए पर बिठा दी गई है| भारत में सामाजिक न्याय, समता और अवसरों की उपलब्धता सुनिश्चित करना आज भी अंग्रेज़ी से सम्भव नहीं हो सका। याद रहे सन 1837 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत की अदालत और शासन के काम के लिए फ़ारसी की जगह अंग्रेज़ी को लागू किया था। इसकी बेड़ी ने कुछ इस तरह जकड़ा कि बावजूद इसके कि हम आजादी का अमृत महोत्सव मनाते हुए भी हम इस गुलाम मानसिकता से नहीं उबर सके हैं। आज सबके मन में यह विश्वास घर कर गया है कि अंग्रेजीदां अधिक समझदार होते हैं । सर्वेक्षण में यह भी मिला है कि अंग्रेजी बोलने वालों को मिलने वाला वेतन हिन्दी जैसी भारतीय भाषा बोलने वालों कि तुलना में प्रति घंटे वेतन में चार गुना ज्यादा होता है। बोलने वालों की संख्या के हिसाब से अंग्रेजी भारत की भाषाओं की सूची में चौवालीसवें नंबर पर है । कुल बारह प्रतिशत जनता अंग्रेजी को बोलती समझती है पर अंग्रेजी देवी की उपासना से ही काम बनता है। सफ़ेदपोश नौकरी के लिए वह पासपोर्ट बनी हुई है। पेट काट कर भी मंहगे अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में पढ़ाना हर माता-पिता की इच्छा होती है। यह सब प्रपंच करते हुए हम यह भूल जाते हैं कि अंग्रेज़ी मानसिक गुलामी बढाती रही है और उसी के साथ सांस्कृतिक दुर्बलताएँ भी शामिल होती गई हैं । अंग्रेजी के साथ अंग्रेजियत यानी एक ऐसी विश्व-दृष्टि भी हम पर छाती गई जिसके चलते उपभोक्तावाद को शह मिली और प्रकृति और पर्यावरण से दूरी बढ़ती गई है जिसका ख़ामियाज़ा सभी भुगत रहे हैं।

भाषा के सत्य से मुंह मोड़ कर अंग्रेजी को जिस तरह एक अकाट्य विकल्प की तरह बैठा दिया गया उसने विचार और कार्य को अंग्रेजी पर आश्रित बना दिया। एक निर्णायक की सी भूमिका में अंग्रेजी कार्य, ज्ञान, व्यवहार और अस्तित्व को स्वीकार्य और अस्वीकार्य की

श्रेणियों में बांटने लगी । अंग्रेजी औपनिवेशिकता का माध्यम भी रही और उन्नति का पर्याय भी बन गई। यह छद्म इस तरह चलता रहा कि औपनिवेशिकता के प्रति हम सचेत न रहे । अंग्रेजी साम्राज्य के दौर से चली आ रही अंग्रेज़ी के भ्रमजाल के आवरण में रहते-रहते अंग्रेजी को विश्व की सार्वभौम भाषा मान लेना भी हमारी अंग्रेजी की पक्षधरता वाली मानसिकता का एक प्रमुख कारण था।

भाषाओं के सामाजिक उद्गम के मद्दे नजर यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि मातृभाषा स्वाभाविक रूप से और बड़ी गहनता के साथ बच्चे के जन्म के पहले से ही उसके परिवेश में उपलब्ध रहती है और उसकी परवरिश भी उसी में होती है । मातृभाषा का ध्वनिरूप और उससे जुड़े हाव-भाव लिखने-पढ़ने की क्षमताओं के पहले से ही बच्चे को उपलब्ध रहते हैं । स्कूल में जाने के पहले औपचारिक रूप में बच्चे के पास प्रचुर शब्द भंडार (तीन साल की उम्र में लगभग हजार शब्द!) सहज में निर्मित हुआ रहता है। ज्ञान पाने की औपचारिक व्यवस्था यदि मातृभाषा से भिन्न किसी दूसरी भाषा में होती है तो सिखाने और सीखने का काम अनावश्यक रूप से कठिन हो जाता है और समय और श्रम भी अधिक लगता है । तमाम मनोवैज्ञानिक और शैक्षिक अध्ययनों से प्रकट है कि शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा का उपयोग मौलिकता, सृजनात्मकता और शैक्षिक उपलब्धि को बढ़ावा देता है । नागरिक जीवन में मातृभाषा/ क्षेत्रीय भाषा का अधिकाधिक उपयोग लोकतंत्र की व्यवस्था को भी मजबूत करेगा । भाषाएँ जीवन का अविभाज्य अंग होती हैं इसलिए उनको नष्ट होने से बचाने का काम होना चाहिए । औपनिवेशिकता से उबरने और शिक्षा और विज्ञान को लोक मानस के पास पहुँचाने और जीवन की गुणवत्ता बढाने में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं का कोई विकल्प नहीं है।

शिक्षा आयोग की रपट में 1964 में प्रो दौलत सिंह कोठारी ने यह दर्ज किया था कि भारत को छोड़ कर दुनिया के किसी भी देश में शिक्षा की भाषा और विद्यार्थी की भाषा के बीच सम्बन्ध विच्छेद नहीं देखा जाता है । मातृभाषा में बच्चे तेजी से और अच्छी तरह सीखते समझते हैं, स्कूल का आनंद लेते हैं और उनका आत्म गौरव भी बढ़ता है। अध्यापक और माता-पिता भी पढाई में सरलता से मदद करते हैं । स्कूल भी अच्छा करता है और बच्चे भी स्कूल में टिकते हैं। नई शिक्षा नीति इस प्रश्न के प्रति संवेदनशील है और आशा है वादे के मुताबिक़ मातृभाषा का शिक्षा के परिसर में स्वागत होगा।

यह भी गौर तलब है कि ज्ञान विज्ञान के देशज श्रोत तक हमारी पहुँच देश की भाषाओं द्वारा ही संभव है । इस स्रोत की उपेक्षा से हम शब्द और ज्ञान से अलग-थलग पड़ते जायेंगे और उनकी विस्मृति के साथ हमारी अस्मिता भी प्रभावित होगी । शब्द हमारे आचरण और जीवन से जुड़े होते हैं और उनको खोना अस्तित्व के लिए जोखिम खडा करने वाला होता है. इसके लक्षण दिखने लगे हैं । वस्तुत: शब्द और भाषा से जीवन , सत्य , अनुभव और जो भी संभव है उसे रचती है। भर्तृहरि की मानें तो शब्द (भाषा) प्रत्येक

प्रत्य या अवधारणा के पहले मौजूद रहता है - *न सोस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगामाद्रिते।* वे यह भी कहते हैं कि प्रत्येक ज्ञान शब्द बिद्ध हो कर ही ग्राह्य बनता है - *अनुविद्धिमव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।*

भारतीय भाषाएं और राष्ट्रीय विकास

मनुष्य का सारा जीवन व्यापार भाषा के माध्यम से ही होता है। उसका मानस भाषा में ही बसता है और उसी से रचा जाता है । दुनिया के साथ हमारा रिश्ता भाषा की मध्यस्थता के बिना अकल्पनीय है । इसलिए भाषा सामाजिक सशक्तीकरण के विमर्श में प्रमुख किरदार है फिर भी अक्सर उसकी भूमिका की अनदेखी की जाती है। भारत के राजनैतिक - सामाजिक जीवन में ग़रीबों , किसानों , महिलाओं , जनजातियों यानि हाशिए के लोगों को सशक्त बनाने के उपाय को हर सरकार की विषय सूची में दुहराया जाता रहा है। वर्तमान सरकार पूरे देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए कृतसंकल्प है। आत्म-निर्भरता के लिए ज़रूरी है कि अपने स्रोतों और संसाधनों का उपयोग को पर्याप्त बनाया जाए ताकि कभी दूसरों का मुँह न जोहना पड़े । इस दृष्टि से 'स्वदेशी' का नारा बुलंद किया जाता है । कभी इस तरह की बातें गुलाम देश को अंग्रेज़ी साम्राज्य की क़ैद से स्वतंत्र कराने और स्वराज्य स्थापित करने के प्रसंग में की ज़ाती थीं । इस विमर्श में स्वदेशी की राह पर चल कर मिलने वाला स्वराज्य सर्वोदय यानी सबके कल्याण के लिए था । अंग्रेज गए , स्वराज्य आया और देश में अपना शासन स्थापित हुआ । यद्यपि 'स्वराज्य' का आशय अपना राज भी था और अपने ऊपर भी राज्य अर्थात् आत्म-नियंत्रण भी था हम पहला अर्थ ही अधिक समझ पाए । फलतः राज करना मुख्य रूप से अधिकार जमाने और दूसरों पर शासन करने तक ही सिमट गया । सरकार का स्वभाव बहुत कुछ नौकरशाही की प्रमुखता वाली अंग्रेजों की शैली के अनुकूल ही बना रहा । सरकार तो आख़िर सरकार ही होती है । जनतंत्र में जिस लोकशाही की उम्मीद थी वह धीरे-धीरे बिखरती गई और राजा और प्रजा , शासक और शासित का भेद बढ़ता गया । ग़नीमत यही रही कि समय के साथ चेहरे थोड़े बहुत बदलते गए । धीरे धीरे राजनीति से आचरण की शुचिता जाती रही और छल , बल , शक्ति और सम्पदा आदि का बोलबाला होता गया । इसकी पृष्ठभूमि अंग्रेजों की विरासत में देखी जा सकती है ।

अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना की कथा से सभी परिचित हैं । आर्थिक फ़ायदों के लिए अंग्रेज भारत में प्रविष्ट हुए और यहाँ शासन पर किस तरह क़ब्ज़ा किया उससे स्पष्ट है कि उनके आर्थिक सरोकार सदैव प्रमुख बने रहे । इस प्रयास में उन्होंने शोषण और दोहन तो किया ही यहाँ के सांस्कृतिक और बौद्धिक - आंतरिक शक्ति को भी यथाशक्ति ध्वस्त किया । सामाजिक भेद भाव की खाई को बढ़ाते हुए भारत की पहचान को विकृत किया । यह सब ऐसे योजनाबद्ध ढंग से हुआ कि अनेक भारतीय उस अंग्रेज़ी दृष्टि को स्वाभाविक , प्रासंगिक और सार्व भौम मान बैठे । उनकी तुलना में भारतीय विचार कमतर आंके जाने लगे और उनकी प्रासंगिकता अधिकाधिक प्रश्नांकित होती गई। भारतीय ज्ञान परम्परा को हाशिए पर

पहुँचा कर और उसके बारे में तरह -तरह के संशय फैला कर अंग्रेज लोग भारतीय शरीर में अंग्रेज़ी मन को स्थापित करने में सफल रहे ।

शासक और शासित की स्पष्ट समझ बनी रहे इसके लिए अंग्रेजों ने कई उद्यम किए अंग्रेजों ने अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी शिक्षा की पौध रोपी और इस तरह से योजना बनाई हम हम न रह गए । शरीर तो भारत का रहा पर मन और बुद्धि अंग्रेज़ीमय या अंग्रेज़ीभक्त हो गया । भवसागर से उद्धार या मोक्ष के लिए हमने अंग्रेज़ी की नौका को स्वीकार किया और उसे शिक्षा तथा आजीविका का स्रोत बना दिया । अंग्रेजों ने व्यवस्था ऐसी चाक चौबंद कर दी थी कि अंग्रेज़ी से मुक्ति अंग्रेजों से मुक्ति से कहीं ज़्यादा मुसीबतज़दा और मुश्किल पहेली बन गई। स्वतंत्र भारत में शिक्षा का जो ढाँचा तैयार हुआ उसकी आधार भूमि गुलाम भारत वाली ही थी। अंग्रेज तो भारत से बिदा हो गए पर उनकी रची व्यवस्थाएँ बनी रहीं और उनके साथ ज़्यादा छेड़छाड़ मुनासिब नहीं समझी गई। उनका मानसिक उपनिवेश पूर्ववत क़ाबिज़ रहा। हम स्वयं को उन्हीं के आइने में देखने के अभ्यस्त होते गए। वे ही ज्ञान-विज्ञान के मानक संदर्भ बन गए। यह प्राकृतिक विज्ञानों में स्वीकार्य था परंतु सामाजिक विज्ञानों और मानविकी जैसे अध्ययन क्षेत्रों में इसके घातक परिणाम हुए और भारत की हमारी समझ उलट पलट सी गई । ऐतिहासिक क्रम में जिस काल खंड में ये विषय भारत में आरम्भ हुए इनकी रचना यूरोप की दृष्टि के अनुरूप हुई पर उसे विश्वजनीन मान कर स्थापित किया गया। इसका परिणाम हुआ कि एक आरोपित दृष्टि थोप दी गई और ज्ञान सृजन में हम प्रामाणिक और प्रासंगिक नहीं हो सके। इस पूरे आयोजन में शिक्षा माध्यम अंग्रेज़ी ने बड़ी भूमिका निभाई । यह देखते हुए भी कि रुस , चीन , जापान , फ़्रांस या जर्मनी हर देश अपनी भाषा में ही शिक्षा देना उचित समझता है। वे ज्ञानार्जन और शासन दोनों ही काम एक ही भाषा में करते हुए आगे बढ रहे हैं। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि मातृभाषा में सहजता से अध्ययन और शोध सम्भव होता है। चूँकि बच्चा मातृभाषा की ध्वनियों की गूंज के बीच जन्म लेता है और उसी के शब्दों से अपनी वाणी को गढ़ता है किसी अपरिचित विदेशी भाषा को शैक्षिक संवाद और संचार का माध्यम बना कर अनुवाद की अतिरिक्त ज़िम्मेदारी सौंप दी जाती है । इसका सीधा परिणाम यह होता है कि सृजनात्मकता प्रतिबंधित हो जाती है और अध्ययन में मौलिक चिंतन की जगह अनुगमन करते रहना ही नियति बन जाती है।

अंग्रेज़ी में विश्व का अधिकांश ज्ञान उपलब्ध है और अनेकानेक देशों में उसका प्रसार है यह विचार मात्र अंशत : सही है। इस भ्रम के अधीन हो कर अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बना कर शिक्षा की प्रक्रिया को टेढ़ा कर बैसाखी पर टांग दिया गया। इसका प्रभाव सीखने की गति को बाधित करने के साथ - साथ भारतीय भाषाओं और भारतीय संस्कृति की समझ को कमजोर करने वाला हो रहा है। वर्तमान सरकार ने आत्मनिर्भर भारत और स्वदेशी की अवधारणा को विमर्श के केंद्र में लाकर सामर्थ्य के बारे में हमारी सोच को आंदोलित किया है। इसी कड़ी में नई शिक्षा नीति में मातृभाषा को शिक्षा के माध्यम के रूप में अवसर देने

पर विचार किया गया है। यह निर्विवाद रूप से स्थापित सत्य है कि आरम्भिक शिक्षा यदि मातृभाषा में हो तो बच्चे को ज्ञान प्राप्त करना सुकर हो जाएगा और माता पिता पर अतिरिक्त भार भी नहीं पड़ेगा। शिक्षा स्वाभाविक रूप से संचालित हो इसके लिए मातृभाषा में अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए। एक भाषा में दक्षता आ जाने पर दूसरी भाषाओं को सिखाना आसान हो जाता है। अतः अंग्रेज़ी या किसी अन्य भाषा को एक विषय के रूप में अध्ययन विषय बनाना उचित होगा। भारत एक बहुभाषी देश है और ज़्यादातर लोग एक से अधिक भाषाओं का अभ्यास करते हैं। इसलिए बहुभाषिकता के आलोक में मातृभाषा का आदर करते हुए भाषा की निपुणता विकसित करना आवश्यक है। देश के लिए सामर्थ्य की चिंता में भाषा के प्रश्न की अवहेलना किसी के लिए भी हितकर नहीं है। मातृभाषाओं में शिक्षा की व्यवस्था से भाषाएँ और समाज दोनों ही सशक्त होंगे। कहना न होगा कि भाषा के संस्कार ही संस्कृति के संरक्षण और संबर्धन का भी अवसर बनेगा और लोकतंत्र में जन भागीदारी भी सुनिश्चित हो सकेगी।

संस्कृत के अध्ययन की प्रासंगिकता

भारतीय प्रायद्वीप में संस्कृति के विकास की कथा की व्यापकता और गहनता का विश्व में कोई और उदाहरण नहीं मिलता न ही वैसी जिजीविषा का ही कोई प्रमाण मिलता है। नाना प्रकार के झंझावातों को सहते हुए भी यदि हजारों वर्ष बाद भी वह आज जीवित हैं तो यह उसकी आन्तरिक प्राणवत्ता के कारण ही सम्भव है। यह विकट सांस्कृतिक यात्रा जिस पाथेय के भरोसे सम्भव होती रही वह निश्चय ही संस्कृत भाषा है। इसके विपुल और विविधतापूर्ण साहित्य की गरिमा को बनाये रखने की आवश्यकता को प्राय: भुला दिया जाता है। इसका कारण हमारी अज्ञानता और भ्रम है जो उस अपरिचय के कारण है जो हमें अपनी शिक्षा से मिलता रहा है। परन्तु परिचय के कारण भ्रम ही सत्य के रूप के लेता है।

अंग्रजों ने जो पाठयक्रम और पद्धति स्थापित की उसमें भारत, भारतीयता और यहाँ की अपनी स्थानीय ज्ञान परम्परा को ध्यानपूर्वक बाहर कर दिया गया और उसके अवैज्ञानिक, परलोकवादी तथा अनावश्यक करार देते हुए मुख्य धारा से परे धकेल दिया गया। वह संग्रह और अनुष्ठानों के लिए आरक्षित कर दी गई । वह 'देव- वाणी' मनुष्य के लिए वर्जित अजूबा बना दी गई। यह सब आम आदमी के मन में संस्कृत भाषा के विषय में मिथ्या प्रवाद के लिये पर्याप्त था। हम संस्कृत को अनौपचारिक अवसरों यथा जीवन-संस्कार, पूजन , उद्घाटन और समापन के लिये औपचारिक महत्व देते रहे पर सक्रिय जीवन की देहरी के पार ही बैठाते रहे। हमारे पास यह अवकाश नहीं रहा कि हम इस अमूल्य विरासत का मूल्य समझ पाते। शिक्षा, परिवार, राज नय , व्यवसाय, वाणिज्य, स्वास्थ्य , प्रकृति, जीवन, जगत और ईश्वर को ले कर उपलब्ध चिन्तन बेमानी रहा। हम सब वेद, वेदांग , पुराण, स्मृति, साहित्य, व्याकरण, आयुर्वेद, दर्शन, नाट्यशास्त्र, काम शास्त्र, अर्थ शास्त्र, योग शास्त्र , ज्योतिष, रामायण, महाभारत, श्रीमद भागवत आदि का नाम तो सुनते रहे पर बिना श्रद्धा के और उनके प्रति में संदेह और दुविधा पालते रहे। इसलिए इनके

अध्ययन और उपयोग की प्रक्रिया बाधित और विशृंखलित हुई। दूसरी ओर इनसे बाद पनपे पश्चिमी जगत के आधुनिक ज्ञान विज्ञान के प्रति सहज श्रद्धा से अभिभूत हो अपनाते गए बिना यह देखे जांचे कि उसका स्वरुप और लाभ कितना है। उसकी सांस्कृतिक घुसपैठ ने हमारा नजरिया और विश्व दृष्टि को ही बदलना शुरू किया। आज भौतिकता और उपभोक्ता वाद की अति के खतरनाक परिणाम सबके सामने हैं।

भारत में अकादमिक समाजीकरण की जो धारा बही उसमें हमारी सोच परमुखापेक्षी होती गई और हमारे लिये ज्ञान का संदर्भ विन्दु पश्चिमी चिन्तन होता गया। ज्ञान के लिये पूरी परनिर्भरता स्थापित होती गई । हम उन्हीं की विचार-सरणि का अनुगमन करते रहे और श्रम, समय और संसाधन बहुत कुछ निरुद्देश्य नकल करने में ही जाता रहा। ज्ञान की राजनीति से बेखबर या उसमें फस कर हम ज्ञान में किसी तरह के नए उन्मेष से वंचित होते गए। पश्चिम के पीछे अनुधावन में हमारी व्यस्तता के बाद मौलिकता और सृजनात्मकता के लिए अवकाश ही नहीं बचता है। ऐसे में जो शोध के नाम पर होता है वह न पश्चिमी दुनिया के काम का होता है न अपने काम का। इस तरह का अतिरिक्त और अनावश्यक मानसिक भार के साथ शोध और अनुसन्धान की कोशिश व्यर्थ ही सिद्ध हुई है।

उपर्युक्त पृष्ठ भूमि में संस्कृत भाषा और साहित्य एक ऐसा स्रोत प्रतीत होता है जिसकी संभावनाओं पर विचार किया जाना चाहिए। कहना न होगा कि संस्कृत भारत की अनेक भाषाओं की जननी है और अनेक स्तरों पर उसकी उपस्थिति हमारे व्यवहार के चेतन और अचेतन स्तर पर बनी हुई है । भाषा , समाज और व्यवहार के अंतर्संबंध व्यापक महत्व रखते हैं। अत: इनके बल पर समाज और व्यक्ति के विचारों और व्यवहारों की कोटियों और उनके अंतर्संबंधों को तलाशने की कोशिश होनी चाहिए । साथ ही शास्त्रीय चिन्तन को समझना और उसका उपयोग विभिन्न क्षेत्रों में व्यावहारिक समाधान में उपयोगी होगा। योग और आयुर्वेद को ले कर उत्सुकता बढ़ी है पर अन्य क्षेत्र अभी भी उपेक्षित हैं। साथ ही संस्कृत के ज्ञान से वे भ्रम भी दूर होंगे जो कई क्षेत्रों में फैल रहे हैं जैसे योग को मात्र आसन और व्यायाम मान लेना। ज्ञान की भाषा के रूप में यदि अंग्रेजी पढाई जाती है तो संस्कृत के लिये भी यह अवसर मिलना चाहिए।

इससे ज्ञान अर्जित करने के लिये अवसर बढ़ेंगे और संस्कृति से अपरिचय और उससे उत्पन्न भ्रम भी दूर होगा। भाषा की दृष्टि से सहज और नियमबद्ध होने से संस्कृत को सीखना सरल भी है और उसका लाभ अन्य भाषाओं को सीखने में भी मिलेगा। संस्कृत समझना और बोलना भारतीय संस्कृति को आत्मसात करने और समृद्ध करने के लिये अर्थात हमारे आत्मबोध के लिये अनिवार्य है। इसे शिक्षा में आरंभ से ही स्थान मिलना चाहिए।